P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-2* May (Part-1)- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

प्रेमचन्द का सिनेमाई सफर – एक अनुशीलन

दामोदर मिश्र
विभागाध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
विद्यासागर विश्वविद्यालय,
मिदनापुर

सारांश

साहित्य और सिनेमा का एक लम्बा इतिहास है। हिन्दी सिनेमा के प्रारंभिक काल का जिक्र आते ही अनायास प्रेमचन्द का स्मरण हो जाता है। साहित्यरथी प्रेमचन्द के सृजनकर्म का एक हिस्सा सिनेमा से सम्बद्ध रहा है जिसकी चर्चा कम होती है। आधुनिक काल में सिनेमा के बढ़ते प्रभाव के क्रम में प्रेमचन्द की चर्चा अप्रासंगिक नहीं है। इसमें शक नहीं कि सिनेमा साहित्य को विस्तार देनेवाला एक महत्वपूर्ण माध्यम है। अतः स्वाभाविक रूप से इसकी ओर प्रेमचन्द आकर्षित हुए थे। 'गरीब मजदूर' से लेकर 'गोदान' तक इनकी कई कृतियों पर फिल्में बनी थीं। उस सबको को ध्यान में रखते हुए इस क्षेत्र में प्रेमचन्द की उपलब्धियों और असफलताओं के अनुसंधान–विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन, नये दिगन्तों का उन्मोचन करेंगे – इसमें सन्देह नहीं।

साहित्य का सिनेमाई रूपान्तरण आज भी जारी है, इसमें चुनौतियों के साथ अपार संभावनाएँ सन्निहित हैं। उस परम्परा में प्रेमचन्द का योगदान खास मायने रखता है। देखना होगा कि फिल्म इतिहास का प्रारंभिककालीन अनुभव ऐतिहासिक साक्ष्य को वहन करने में किस कदर सक्षम रहा है एवं उत्तरकाल को दायभाग के रूप में क्या मिला है ?

मुख्य शब्द : अन्तःसम्बन्ध, रूपान्तरण, चुनौतियाँ, संभावनाएँ।

प्रस्तावना

सिनेमा सभ्यता का आधुनिक आविष्कार है और सांस्कृतिक व मनोरंजन जगत के लिए एक चमत्कारी अवदान। भारतवर्ष में साल 1913 में दादा साहब फालके द्वारा चलचित्र–निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। प्रथम कथाचित्र का नाम राजा हरिश्चन्द्र था और यह अवाक् था क्योंकि चित्रों के साथ ध्वनि को जोड़ने की विधि मालूम नहीं थी। इस मोर्चे पर इंपीरियल कम्पनी को पहली सफलता 1930 में मिली। 1931 ई. में इंपीरियल मूवीटोन की ओर से फिल्मकार अर्देशिर ईरानी के द्वारा प्रथम बोलती फिल्म 'आलम आरा' जब तैयार हो गई तो भारतीय फिल्म जगत में तहलका मच गया। बंबई के मैजिस्टिक थियेटर में 14 मार्च 1931 में इसका उद्घाटन हुआ। " फिल्म का प्रचार–प्रसार भी उस समय के अनुसार बहुत भव्य ढंग से हुआ था। पुरानी फिटिन घोड़ा गाड़ी पर ढिंढोरची टीन के भौंपू पर चिल्ला–चिल्लाकर प्रचार करते थे, मुर्दा जिन्दा हो गया....। नया अजूबा देखो, चलती–फिरती, नाचती–गाती तस्वीरें चार आने में।"1 निश्चय ही आधुनिक भारत की सभ्यता की तालिका में एक नया नाम जुड़ गया और इसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। जहाँ तक साहित्य से चलचित्र का सम्बन्ध है प्रेमचन्द की कहानी 'मील मजदूर' (बदला हुआ नाम 'गरीब मजदूर') पर निर्माता–निर्देशक मोहन भवनानी द्वारा पहली बार प्रस्तुत किया गया था। साहित्य पर चलचित्र–निर्माण का यह सिलसिला निरन्तर जोर पकड़ता गया।

साहित्यकार प्रेमचन्द

प्रेमचन्द (1880–1936) हिन्दी के युग प्रवर्तक कथाकार हैं। उन्होंने हिन्दी कथा–साहित्य को ऐयारी, तिलिस्मी व जासूस की दुनिया से मुक्त कराकर सामाजिक धरातल पर स्थापित किया। यद्यपि उन्होंने नाटक, निबन्ध, जीवनी, बाल साहित्य, अनुवाद आदि विषयों पर कलम चलायी है किन्तु उनकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय कथा साहित्य (उपन्यास और कहानी) में मिलता है। भले ही इन्द्रनाथ मदान उनके कहानीकार रूप को अधिक महत्व दें और रामविलास शर्मा उपन्यासकार प्रेमचन्द को, पर बंगला के चर्चित कथाकार शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय उन्हें उपन्यास–सम्राट के खिताब से नवाजते हैं। प्रेमचन्द का युग भारतीय नवजागरण व राष्ट्रीय जागरण का काल था और प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं द्वारा उसे समृद्धि के शिखर तक पहुँचाने की कोई कसर नहीं छोड़ी। सच्चे अर्थ में उनका साहित्य सोद्देश्य रचित था और नये मूल्यों की स्थापना के साथ सामाजिक परिवर्तन का आकांक्षी था। एक तरफ समाज के

पिछड़े वर्ग के प्रति उनके मन में सच्ची सहानुभूति संचित थी तो दूसरी तरफ अंग्रेजी राज की दमन व शोषण नीति के खिलाफ जन–चेतना को जागृत करने का सृजनशील प्रयास जारी था। सृजन का यह प्रगतिकामी प्रयास संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर जारी रहा और कथा–साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द अपने समय के सूर्य के रूप में स्थापित हुए। सादी जिन्दगी और ऊँची निगाह के साथ समाज का झण्डा लेकर राजनीति के आगे चलनेवाले इस सिपाही में कर्मशक्ति कूट–कूट कर भरी थी। उनके लिए साहित्य सिर्फ मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं थी। 1917 की रूस क्रांति से वे उत्साहित थे और दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक कर्मादर्शों से वे अनुप्राणित थे। इन्द्रनाथ मदान को एक खत में उन्होंने लिखा है – "मेरे ऊपर टॉलस्टॉय, विक्टर ह्यूगो, रोमा रोलाँ का असर पड़ा है। कहानियों की प्रेरणा रवीन्द्रनाथ से मिली है।"2 हिन्दी में कबीर–तुलसी के बाद शायद इतनी लोकप्रियता प्रेमचन्द के अतिरिक्त और किसी को मिली हो। सचमुच प्रेमचन्द जनता के साहित्यकार, राष्ट्रीय व कालजयी साहित्यकार हैं जिन्होंने लगभग 300 कहानियों, दर्जनों उपन्यास साहित्य की रचना की है। कहानियों में 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'सवा सेर गेहूँ', 'मन्त्र' 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गाति', 'ईदगाह', 'कफन' आदि एवं उपन्यासों में 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि कृतियाँ सर्वाधिक चर्चित रही हैं।

फिल्म जगत में प्रेमचन्द का आगमन

साहित्य सिनेमा के लिए एक तरह कच्चे माल का काम करता है। प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम साहित्यकार हैं जिनकी अब तक सर्वाधिक कृतियों का फिल्मीकरण हुआ है । रामविलास शर्मा लिखते हैं ––– "प्रेमचन्द ने अपने हंस को बचाने के लिए कुछ दिन सिनेमा के लिए लिखा.... ।"3 मगर सिर्फ 'हंस' पत्रिका नहीं 'जागरण' को भी बचाना चाहते थे। उनके द्वारा 30 अप्रैल 1934 को जैनेन्द्र को लिखे पत्र का अंश द्रष्टव्य है ––– "बम्बई की एक फिल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कंट्रैक्ट की बात है। 8000 रुपये साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए हाँ के सिवा कोई उपाय नहीं रह गया।.....मैं वहीं बैठे–बैठे तीन चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार पाँच हजार रुपये मिल जाया करे। उससे 'जागरण' और 'हंस' दोनों मजे से चलेंगे और पैसों का संकट कट जाएगा।"4 अर्थात् आर्थिक संकट ने प्रेमचन्द को बम्बई की अजन्ता सिनेटोन कम्पनी के वहाँ हाजिर करवाया था। इसकी चर्चा आगे होगी पर यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि पैसे के अतिरिक्त सिनेमा की अन्य उपयोगिताओं से प्रेमचन्द भलीभाँति वाकिफ थे। फिल्म पर प्रेमचन्द द्वारा लिखित एक आलेख पर नरोत्तमप्रसाद नागर ने एक लम्बी टिप्पणी लिखी थी और उसके जबाव में प्रेमचन्द लिखते हैं – " सिनेमा की क्षमता से मुझे इंकार नहीं। अच्छे विचारों और आदर्शों के प्रचार में सिनेमा से बढ़कर कोई दूसरी शक्ति नहीं है।"5

साहित्य और सिनेमा का अन्तःसम्बन्ध

प्रेमचन्द के साहित्य के सिनेमाई रूपान्तरण की चर्चा से पहले यह समझ लेना जरूरी है कि साहित्य और सिनेमा का अन्तःसम्बन्ध व फिल्मी रूपान्तरण का रसायन क्या है?

दरअसल साहित्य और सिनेमा दोनों कलाएँ हैं और दोनों की सत्ताएँ अलग–अलग हैं। साहित्य प्राचीन कला है तो फिल्म आधुनिक है। साहित्य मानवीय संवेदना की भाषिक अभिव्यक्ति है किन्तु सिनेमा में सब कुछ के होने के बावजूद उसका स्वरूप प्रायोगिक होता है। साहित्य का अध्ययन करते हैं तो सिनेमा में चित्रों को देखते हैं और ध्वनि का श्रवण करते हैं। सिनेमा एवं साहित्य अपनी त्रिआयामी व्याप्ति में सार्थक व चरितार्थ होते हैं, जैसे, साहित्य के लिए साहित्यकार, साहित्य और पाठक होते हैं ठीक उसी तरह सिनेमा के लिए अभिनेता (निर्माता), निर्देशक और प्रेक्षक (दर्शक) की भूमिका होती है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया के समुचित समन्वय से जैसे जीवन की लक्ष्यपूर्ति होती है ठीक उसी तरह साहित्य व सिनेमा के क्षेत्र में सम्बद्ध तत्वों की सन्तुलित व सृजनशील भूमिका लोक कल्याणकारिणी होगी – इसमें संदेह का अवकाश नहीं है।

साहित्य और सिनेमा दोनों संस्कृतिकर्म हैं। साहित्य में शब्द का मौन रूप होता है जबकि फिल्म में प्रयोजन के अनुसार इसके मौन–मुखर व प्रायोगिक रूप होते हैं। साहित्य को एक रचनाकार एक कलम, कागज या कम्प्यूटर लेकर कहीं भी बैठ कर लिख सकता है पर सिनेमा में कैमरा व अदाकारों को इप्सित या आवश्यक स्थल वांछित है जहाँ इसका बकायदा प्रोडक्शन हो सके। आवश्यक पूँजी की लागत से फिल्म का निर्माण होता है पर साहित्य–सृजन के लिए ऐसी आवश्यकता नहीं है। सत्यदेव त्रिपाठी का कथन कितना समीचीन है कि "शायद साहित्य की गरिमा का ही यह मामला है, उसके सृजन की यह शक्ति है कि साहित्य से आकृष्ट होकर सिनेमा समृद्ध हो सकता है, पर सिनेमा से आकृष्ट होकर साहित्य नहीं। और साहित्यकार तो बिल्कुल नहीं।"6

साहित्य का फिल्माई रूपान्तरण और प्रेमचन्द

विदित है कि साहित्य पर फिल्म बनती है और भविष्य में भी यह कार्य जारी रहेगा। यह केवल हिन्दी साहित्य की बात नहीं है, विश्व के अन्य भाषा–साहित्य की यही स्थिति रही है, अर्थात् साहित्य और सिनेमा का सम्बन्ध पुराना नहीं घनिष्ठ है। दोनों सृजनधर्मी तो हैं पर दोनों की प्रकृति एक नहीं। यही बात भी दोनों की प्रेरणा, लक्ष्य, प्रक्रिया तथा परिणति के साथ परिलक्षित होती है। दोनों के आदर्श अलग–अलग हैं। शायद दोनों के द्वन्द्वों के ये ही कारण हैं। उच्चकोटि के साहित्य की संवेदना के साथ छेड़–छाड़ कतई समीचीन नहीं है। पर साहित्य के लिए यह शत प्रतिशत जरूरी होने पर भी फिल्म के लिए नहीं। सिनेमा के साथ बिजनेस जुड़ा हुआ है पर साहित्य उस अर्थ में बिजनेस नहीं है।यह अवश्य सत्य है कि साहित्य अपने मूल रूप में सिनेमा नहीं है। सिनेमा के लिए साहित्य का रूपान्तरण होता है जिसे फिल्मीकरण कहा जाता है। फिल्मीकरण के लिए साहित्य के साथ जो ट्रीटमेंट होता है उसकी प्रक्रिया और उद्देश्य को लेकर साहित्यकार और फिल्मकार की दृष्टि में अन्तर

होता है। दृष्टिकोण के आधार पर दो वर्ग के फिल्मकार नजर आते हैं। एक वह वर्ग है जो चाहते हैं कि साहित्य के फिल्मी रूपान्तरण में साहित्य की संवेदना के साथ कोई छेड़छाड न हो। यह फिल्मकार की ईमानदारी का विषय है। इस वर्ग के फिल्मकारों में शैलेन्द्र, श्याम बेनेगल, चन्द्रभूषण द्विवेदी, मुजफरअली जैसे निर्माता आते हैं। ऐसे फिल्मकारों का मानना है कि वे प्रेमचन्द, रेणु या अमृता प्रीतम आदि से बेहतर सोच नहीं सकते। अगर यह उनके लिए संभव होता तो फिर उन सब के साहित्य पर फिल्म न बनाकर दूसरा साहित्य लिखते। खतरा उठाकर शैलन्द्र जी ने साहित्य के प्रति जिस निष्ठा का सबूत पेश की आज भी वह अनुकरणीय है। दूसरे वर्ग के फिल्मकार वे हैं जो आवश्यकतानुसार अपनी दृष्टि का प्रयोग करके साहित्यिक कृति के फिल्मीकरण के क्रम में ऐसा बदलाव कर डालते हैं जिसे हम उस कृति का पुनःसृजन कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में सत्यजित राय का कहना है कि "मैं किसी कहानी या उपन्यास को उसके कुछ तत्वों की वजह से चुनता हूँ। पटकथा लिखने की प्रक्रिया में उसकी कथावस्तु परिवर्तित हो सकती है। अधिकांश तत्व सुरक्षित रखता हूँ फिर कहानी पढ़ते हुए कई बार महसूस होता है कि कोई ऐसा चरित्र इस तरह व्यवहार नहीं करेगा जिस तरह लेखक ने वर्णित किया है, इसलिए कुछ परिवर्तन करने होते हैं। एक बार जब मैंने कहानी पढ़ ली तो मैं उसे पीछे छोड़ देता हूँ और शून्य से शुरू करता हूँ।"7 इसी तरह 'शतरंज के खिलाड़ी' में जोड़–तोड़ करके उसकी पुनर्रचना सत्यजित राय ने की है। डॉ. कमलकिशोर गोयनका का कहना है कि "शतरंज के खिलाड़ी कहानी के तीन पाठ मेरे पास उपलब्ध हैं।"8 इस कहानी का सर्वप्रथम प्रकाशन हिन्दी में 'माधुरी' के अक्टूबर 1924 के अंक में हुआ था। कानपुर से प्रकाशित उर्दू पत्रिका 'जमाना' के दिसम्बर 1924 के अंक में 'शतरंज के बाजी' शीर्षक से यह कहानी छपी थी। इन दोनों के अतिरिक्त बनारस के मुरारीलाल केड़िया के पास 'शतरंज के खिलाड़ी' की एक पांडुलिपि (जो हिन्दी में है) थी, जो मुरारीजी को प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी से मिली थी। अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि सत्यजित राय ने इनमें से किसका फिल्मांकन किया था ? क्योंकि 'माधुरी' एवं 'जमाना' के पाठ से पाण्डुलिपि वाला पाठ हू–ब–हू नहीं मिलता। फिर सत्यजित राय की मिलावट अलग है कयोंकि उन्होंने कहानी के अंत तक को भी बदल दिया था। मीर और मिरजा की कहानी फिल्म में जैसे वाजिद अली शाह की कहानी बनकर रह गई थी।

1933 ई. में मोहन भावनानी ने जब 'मिल मजदूर' पर फिल्म बनाई थी उसमें उन्होंने काफी कुछ बदल दिया था जो प्रेमचन्द को पसन्द नहीं था। जबकि 'मिल मजदूर' अंग्रेजी सेंसर बोर्ड की ओर से बम्बई में पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया पर 'गरीब मजदूर' नाम से। पहले प्रयोग से निराश होने पर भी प्रेमचन्द ने हिम्मत नहीं हारी थी। 1934 ई. में उनकी रचनाओं पर दो फिल्में आयी। एक थी 'सेवासदन' (उर्दू नाम –बाजारे हुस्न) पर और दूसरी 'नव जीवन' पर। नानूभाई वकील द्वारा दोनों पर बनी फिल्में असफल रहीं। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' पर सबसे अधिक फिल्में बनी हैं। तमिल में के. सुब्रमण्यम् जब 'सेवासदन' पर फिल्मी बनाई तो यह बहुत हद तक सफल रही।

फिल्म रूपान्तरण हेतु साहित्य के साथ हो रही छेड़छाड़ से प्रेमचन्द मर्माहत थे। 28 नवम्बर 1934 ई. को अजन्ता सिनेटोन, परेल, बम्बई से जैनेन्द्र के पास भेजे पत्र में वे लिखते हैं – "फिल्मी हाल क्या लिखूँ।.....मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरे होते नजर नहीं आते। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं उसकी लीक से जौ भर भी हट नही सकते। ..... राजा–रानी, उनके मंत्रियों के षड़यन्त्र, नकली लड़ाई, बोसे–बाजी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चले या न चले।"9

मरणोपरान्त (1936) भी उनकी रचनाओं का फिल्मीकरण होता रहा। 'त्रिया चरित्र', 'दो बैलों की कथा', 'रंगभूमि', 'गोदान', 'गबन', 'सद्गति' आदि पर फिल्में बनीं पर इस कार्य में सफलता कम फिल्मकारों को मिली। 1914 ई. में प्रेमचन्द की कहानी 'त्रिया चरित्र' को लेकर ए. आर. कारदार ने 'स्वामी' नाम से फिल्म बनाई पर वह पलॉप कर गई। गुलजार जी साहित्यकार एवं फिल्मकार रहे हैं। वे सिनेमा के संदर्भ में लिखते हैं ––– "मैं इसे (सिनेमा को) साहित्य के नए अंग के रूप में देखता हूँ।"10 किन्तु इसी व्यक्ति के हाथ में पड़कर फिल्म 'गोदान' का जो हस्र हुआ वह बड़ी विडम्बना की बात अवश्य है। रचना को इतनी हानि शायद पहले कभी पहुँचा हो। 'गोदान' को न पढ़ने वाले फिल्म को देखें तो उन्हें प्रेमचन्द के श्रेष्ठ रचनाकार होने में सन्देह जरूर होगा।

प्रेमचन्द के साहित्य पर फिल्म बनाने वालों में जो सफलता सत्यजित राय को मिली है वह और किसी को नहीं। हाँ, उन्होंने 'शतरंज के खिलाड़ी' के निर्माण में काफी छूट ली है। जिससे आलोचकों ने उसे 'खिलवाड़' तक कहा है, फिर भी 'सद्गति' के निर्माण में अपनी प्रतिभा को निर्दोष बनाये रखने में उन्हें बड़ी कामयाबी मिली है।

फिल्म जगत से सम्बद्ध अन्य साहित्यकार

सिर्फ प्रेमचन्द ही नहीं प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के कई बड़े साहित्यकार जैसे भगवतीचरण वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', अमृतलाल नागर आदि सिनेमा में अपने भाग्य आजमाने पहुँचे पर प्रेमचन्द की तरह वॉलीवुड के क्षेत्र में ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सके। इनमें से अमृतलाल नागर थोड़ा अधिक दिन तक टिक सके क्योंकि वे निर्माता–निर्देशकों की माँग के मुताबिक अपनी रचनाओं को ढालते रहे पर अन्ततोगत्वा उन्हें छोड़कर आना पड़ा। 1941 ई. में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर केदार शर्मा ने फिल्म बनाई और वह फिल्म काफी हद तक सफल रही। आगे चलकर चाहे गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' पर अथवा रेणु की कहानी पर आधारित 'तीसरी कसम' हो या फिर चतुरसेन शास्त्री की औपन्यासिक कृति पर आधारित 'धर्मपुत्र' हो ––– कोई भी फिल्म जन पसन्द की नही रही। अर्थात् फिल्म सम्बन्धी प्रेमचन्द के कटु अनुभव के रास्ते कमोबेश अन्य साहित्यकारों को भी गुजरना पड़ा है।

निष्कर्ष

सिनेमा आधुनिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी की देन है। साहित्य से उसका अच्छा सम्बन्ध है। तभी तो सत्यजित राय कहते हैं, ———"फिल्म छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गति है, फिल्म नाटक है, फिल्म कहानी है, फिल्म संगीत है।"11 यानी फिल्म में साहित्य, संगीत, कला सब कुछ है। आधुनिक युग विज्ञान व प्रौद्योगिकी–निर्भरता का युग है। अपने विकास व विस्तार हेतु सब को विज्ञान–प्रौद्योगिकी की शरण में जाना होगा। साहित्य उसका अपवाद नहीं है। कहने का आशय यह है कि साहित्य के विकास, प्रचार–प्रसार के लिए सिनेमा एक बहुत बड़ा औजार है इसमें दो राय नहीं है किन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि साहित्य और सिनेमा दो भिन्न जगत हैं। इनके वजूद और उसूल अलग–अलग हैं। इन सारी चीजों को प्रेमचन्द बखूबी समझते हैं तभी तो इन विषयों पर इन्होंने कई आलेख लिखे हैं जिनमें 'सिनेमा और जीवन', 'सिनेमा और युवक', 'फिल्म और साहित्य' प्रमुख हैं। एक समय यूरोप में इसके बढ़ते साख को देखकर प्रेमचन्द एक तरफ उत्साहित तो दूसरी तरफ चिंतित भी हुए थे ——— "सिनेमा का प्रचार दिन–दिन बढ़ रहा है। केवल इंगलैण्ड में दो करोड़ दर्शक प्रति सप्ताह सिनेमा देखने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फर्ज हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर बड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन लुटेरों के हाथ में न छोड़ दे।"12 अन्यत्र प्रेमचन्द साहित्य की दूध से और फिल्म की ताड़ी–शराब से तुलना करते हैं। इस सब से यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द असल में सिनेमा के खिलाफ नहीं थे पर उसके दुरुपयोग के खिलाफ थे। जब उनके साहित्य के फिल्म–प्रयोग का आरंभिक दौर था उस समय वे घटिया व्यावसायिक रुचि से आजिज आकर यहाँ तक भी उन्होंने कह डाला था कि "यह प्रेमचन्द की हत्या है।"13 वे फिल्म जगत को अलविदा कह कर आ गये थे। वर्तमान इस उत्तर आधुनिक व वैश्वीकरण के दौर में सिनेमा के दुरुपयोग के खतरे बढ़ गये हैं। अतः जरूरी है कि प्रेमचन्द के सिनेमा और साहित्य सम्बन्धी विचारों को अमली जामें पहनाये और मानवीय संस्कृति को विनष्ट होने से बचाएँ। फिल्म कृति आधारित हो, न कि कृति फिल्म आधारित हो। कृति के सिनेमाई रूपान्तरण में यथेच्छाचारिता कतई श्लाघ्य नहीं है। स्वस्थ तथा प्रगतिशील समाज–निर्माम में सिनेमा एवं साहित्य – दोनों में अपार संभावनाएँ हैं। यह भूलना नहीं चाहिए कि दोनों का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है। दोनों का उद्देश्य सस्ता मनोरंजन हो, सुरुचि व सौन्दर्य से दोनों का कोई मतलब न हो तो समझना होगा कि दोनों अपने उद्देश्यों से भटक गये हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं ——— "साहित्य के सामने आदर्श है, संयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिए इनमें से किसी वस्तु की जरूरत नहीं।"14 अर्थात् प्रेमचन्द स्पष्टतः चाहते हैं कि साहित्य और सिनेमा एक रूप हों। वस्तुतः जिस देश की लोकरुचि परिष्कृत हो और जिस देश के सिनेमा और साहित्य सुरुचिसम्पन्न हों, तो उस देश की तरक्की को कोई रोक नहीं सकता।

संदर्भसूची

1. *अग्रवाल प्रहलाद एवं अन्य (संपादक), हिन्दी सिनेमा, बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ – 27*
2. *पाण्डेय श्रीनारायण, प्रेमचन्द का संघर्ष, शांति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987, पृष्ठ – 18.*
3. *शर्मा रामविलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, 1989, पृष्ठ – 26.*
4. *प्रेमचन्द रचनावली – 19, जनवाणी प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, 2006, पृष्ठ – 403*
5. *प्रेमचन्द रचनावली – 7, जनवाणी प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, 2006, पृष्ठ – 462*
6. *साहित्य, समाज और सिनेमा, सं. हिमांशु, आनन्द प्रकाशन, कलकत्ता, 2017, पृष्ठ – 20*
7. *वही, पृष्ठ – 42*
8. *गोयनका, डॉ. कमलकिशोर, प्रेमचन्द : अध्ययन की नई दिशाएँ, साहित्य निधि, सी–38, ईस्ट कृष्णनगर, दिल्ली–51, संस्करण : प्रथम, 1981, पृष्ठ –143*
9. *प्रेमचन्द रचनावली –19, जनवाणी प्रकाशन, 2006, पृष्ठ – 428*
10. *सं. मृत्युंजय, समकालीन सृजन, अंक – 17, 1997, पृष्ठ – 40*
11. *पटकथा, प्रकाशन– मध्यप्रदेश संस्कृति विभाग, अंक – 1, सत्यजित राय : मेरा जीवन, मेरी फिल्में, पृष्ठ – 7*
12. *प्रेमचन्द रचनावली 9, जनवाणी प्रकाशन, 2006, पृष्ठ – 163*
13. *डॉ. जी. जे. के. भारती, आलेख –सिनेमा, साहित्य का अन्तर्सम्बन्ध, साहित्य, समाज और सिनेमा, सं. हिमांशु, आनन्द प्रकाशन, कलकत्ता, 2007, पृष्ठ –122*
14. *प्रेमचन्द रचनावली – 7, 2006, पृष्ठ – 458*